Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
Available online at : **www.shisrrj.com**
OPEN ACCESS
ISSN : 2581-6306
doi : https://doi.org/10.32628/SHISRRJ

महर्षि दयानंद सरस्वती के वैदिक शैक्षिक विचार: एक वैचारिक पुनरावलोकन एवं समकालीन सन्दर्भों में प्रासंगिकता

सुषमा रानी
एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षक शिक्षा विभाग, एन.एम.एस.एन.दास (पी.जी.) कॉलेज, बदायूं, भारत।

Article Info

Article History
Received : 03 Aug 2024
Published : 16 Aug 2024

Publication Issue :
July-August-2024
Volume 7, Issue 4

Page Number : 102-108

शोधसारांश- महर्षि दयानंद सरस्वती द्वारा प्रतिपादित वैदिक शिक्षा प्रणाली न केव
व्यक्ति के बौद्धिक विकास का माध्यम थी, बल्कि यह आत्म-उत्थान, सामाजिक सु
तथा आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग भी थी। उन्होंने शिक्षा को केवल औपचारिक विद्याल
प्रणाली तक सीमित नहीं रखा, बल्कि जन्म से मृत्यु तक चलने वाली एक निरंतर प्रक्रि
के रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार, वैदिक ज्ञान का उद्देश्य व्यक्ति को विवेकशी
धार्मिक, संयमी, और सत्य के मार्ग पर चलने वाला बनाना है। उन्होंने अर्यपाठ पद्धति
पुनरुत्थान की आवश्यकता पर बल दिया और पौराणिक अंधविश्वासपूर्ण शिक्षाओं
समाज की अधोगति का कारण बताया। महर्षि दयानंद का यह विश्वास था कि वैदि
शिक्षा ही भारत के नैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान का एकमात्र आधार
यह शोधपत्र उनके वैदिक शैक्षिक दृष्टिकोण का विश्लेषण करता है तथा यह समझने
प्रयास करता है कि उनके विचार आज के शिक्षा तंत्र और सामाजिक सुधार में किस प्र
प्रासंगिक हो सकते हैं।

मुख्य शब्द: महर्षि दयानंद सरस्वती, वैदिक शिक्षा, आर्यपाठ पद्धति, सत्यार्थ प्रका
धार्मिक मुक्ति, जीवनपर्यंत शिक्षा, सामाजिक सुधार, वैचारिक पुनरुत्थान, वेदों की व्याख
भारतीय शिक्षा प्रणाली।

परिचय - वे शिक्षा को केवल विद्यालयी शिक्षा से नहीं जोड़ते थे जिसे निश्चित समय और पाठ्यक्रम के अन्तर्गत प्राप्त किया जाता है, वरन् जीवन पर्यन्त चलने वाली शिक्षा को वे महत्व देते थे। विद्या के महत्व को शतपथ ब्राह्मण में भी उल्लेख किया गया है। जिसे महर्षि जी ने अपनी पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश में उद्धृत किया है – जिनके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है वह कुल धन्य है और संतान भाग्यशाली है जिसके माता-पिता विद्वान है क्योंकि माता-पिता के द्वारा ही संस्कारों का निर्माण होता है। पवित्र व्यवहार, अनुशासन, शिष्टता, विनम्रता, धैर्य, साहस आदि सभी व्यक्तित्व के गुणों का विकास माता-पिता की शिक्षा द्वारा होता है। विद्या को वे आत्म-विकास का साधन मानते थे उनका विचार था कि जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा जितेन्द्रियता आदि की

Copyright © 2024 The Author(s): This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution **4.0 International License (CC BY-NC 4.0)**

बढ़ोत्तरी होवे और अविद्या दोष छूटे उसको शिक्षा कहते है। अनित्य में अनित्य, नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र, पवित्र में पवित्र, दु:ख में दु:ख, सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है। अर्थात् जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध हो वह विद्या और उपरोक्त तत्वों में विपरित बुद्धि होवे वह अविद्या कहलाती है।[1]

महर्षि ने विद्या को सुख तथा मोक्ष के साधन के रूप में कहा है जैसा कि उनकी पुस्तक व्यवहारभानु में उद्धत है– विद्या के बिना मनुष्य को निश्चित ही दु:ख मिलता है अत: धर्मार्थ मोक्ष के लिये विद्या अभ्यास करना चाहिए। उनका विचार था कि संसार में जितने दान है अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों में वेद विद्या का दान अति श्रेष्ठ है। इसलिए जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि किया करे। जिस देश में यथा योग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वहीं देश सौभाग्यवान होता है। महर्षि जी आदि गुरू शंकराचार्य की तरह से शिक्षा को केवल जीवीकोपार्जन का साधन नही मानते थे।[2] बल्कि इसे मोक्ष का साधन मानते थे वे यजुर्वेद के अग्रलिखित दृष्टान्त से सहमत थे कि जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को सही जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के (विद्या) यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने अपनी पुस्तक व्यवहार भानु में शिक्षा के अर्थ को बताया है कि जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित हो सके वह शिक्षा कहलाती है।[3]

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में जिस शिक्षा पद्धति अथवा पठन–पाठन का निर्देश किया है उसे ही आश्रम या गुरूकुल शिक्षा पद्धति या वैदिक शिक्षा पद्धति कहा जाता है और उसमें पढ़ायी जाने वाली पाठ विधि को आर्ष पाठविधि कहा जाता है। महर्षि दयानन्द ने इसी पद्धति को सर्वोत्तम और उपयोगी माना है और उसे अपनाने के लिए अपने सभी ग्रन्थों में बल दिया है। इस पाठ विधि में संसार भर की समस्त आध्यात्मिक एवं भौतिक सत्यविद्याओं का समावेश है, जिसके आधार पर इस पाठ विधि को संसार की व्यापकतम् पाठविधि कहा जा सकता है।[4] संसार में प्रचलित सभी पाठविधियों में कोई केवल आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करती है तो कोई केवल भौतिक शिक्षा, किन्तु आर्ष पाठविधि दोनों प्रकार की शिक्षाओं को अर्जित करने का विधान करती है। इसकी महानता, व्यापकता और गम्भीरता इस विषय में है कि महर्षि इस पाठविधि के अन्तर्गत् मनुष्यमात्र को पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त या परमाणु से लेकर परमेश्वर पर्यन्त, अधिक से अधिक सत्यविद्याओ का ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश देते हैं। महर्षि ने इस पाठ विधि को सार्वभौमिक रूप से मानवमात्र के हितार्थ सदा–सर्वदा के लिए उपयोगी माना है। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रस्तावित आर्ष पद्धति में ऋषि या आर्ष शब्द व्यापक एवं गम्भीर अर्थ को संजोये हुए हैं। इसके दो अर्थ है एक अर्थ– ईश्वर। ईश्वर द्वारा कहा गया वेद अथवा ईश्वर प्राप्ति विषयक अध्ययन अध्यापन जिस पद्धति में होता है, उसे आर्ष पाठविधि कहा जाता है।[5] इस विषय का प्रमाण ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अपने अन्य ग्रन्थों में महर्षि ने दिया है। ऋषि का दूसरा अर्थ है– वेदमन्त्रार्थद्रष्टा, धार्मिक, सदाचारी आप्त पुरुष। ऐसे विद्वानों द्वारा प्रयुक्त लिखित अथवा तद्विषयक अध्ययन–अध्यापन जिसमें कराया जाता है उसे आर्ष शिक्षा पद्धति कहते है। इस अर्थ को महर्षि जी ने ऋग्वेद और यजुर्वेद की मंत्रों द्वारा स्पष्ट किया है। आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन–अध्यापन के साथ इस आर्ष पाठ विधि में ऋषि–मुनियों द्वारा निर्धारित रहन–सहन की व्यवस्था है जिसे ब्रह्मचर्य आश्रम पद्धति कहते है। बालक और बालिकायें उस व्यवस्था में रहकर शिक्षा अर्जित करते है इस प्रकार धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति आर्ष पाठविधि से ही हो सकती है। अन्य कोई पाठविधि इन लक्ष्यों को एक साथ पूरा नहीं कराती है। भारतीय वैदिक परम्परा और महर्षि दयानन्द की मान्यता के अनुसार आदि सृष्टि में परमेश्वर

ने चार वेदों के माध्यम से कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान दिया। ऋग्वेद ऋषि अग्नि की आत्मा में, यजुर्वेद ऋषि वायु की, सामवेद ऋषि आदित्य की और अर्थवेद ऋषियों आदि की आत्मा में प्रकट हुआ। उनसे वेदों का ज्ञान महर्षि ब्रह्मा, या ब्रह्मऋषि मुनियों ने लेकर अनेक विद्याओं का अविष्कार किया उस आदि काल से लेकर मुख्यत: महाभारत काल तक और साधारणत: बौद्ध काल तक ही आर्ष पाठ विधि भारत में प्रचालित रही है।

इस पाठ विधि की व्यवस्था में शिक्षित होकर प्राचीन काल में भारत वर्ष विद्या में विश्वगुरू कहलाया। सारे संसार में यहीं से विद्याएं फैली और यहीं पर संसार के लोग शिक्षा ग्रहण करने आते थे। धन या व्यापार में यह सुवर्ण भूमि और सोने की चिड़िया बना। बल में इतना इसका वर्चस्व रहा हैं कि कभी किसी ने इधर आँख उठाकर नहीं देखा और जिसने आँख उठायी भी तो उसे मार खानी पड़ी।[6] अपितु यहीं के लोगों ने दक्षिण, दक्षिण पूर्वी और पश्चिमी देशों तक पहुँचकर अपनी राजसत्ता स्थापित की। सबसे प्राचीन धर्मशास्त्र मनुस्मृति में महर्षि मनु ने गौरव के साथ यह निर्देश देते है पृथ्वी के लोगों! यदि तुम्हें यदि शिक्षा प्राप्त करनी है तो आओ और भारत में उत्पन्न सर्वोच्च ब्रह्मज्ञानी विद्वानों से जो सर्वत्र हैं अपने इच्छित विषयों की शिक्षा प्राप्त करो। विद्या में विश्वगुरू होने के कारण ही विश्व के बड़े-बड़े शिक्षा केन्द्र गुरूकुल, आश्रम, विद्यापीठ तक्षशीला व नालन्दा के सर्वप्रथम विश्वविद्यालय थे जहाँ दस-दस हजार देशी-विदेशी विद्यार्थी एक साथ रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे। महाभारत में सैकड़ों स्थानों पर वेद-वेदांग की शिक्षा का उल्लेख आता है। उदाहरण स्वरूप- महाभारत के मैदान में युद्ध के लिए सन्निद्ध दोनों पक्षों के राजाओं और क्षत्रियों का परिचय महर्षि व्यास इन शब्दों में देते है "दोनों सेनाएँ युद्ध के लिए तत्पर खड़ी है सभी राजा और सेनाधिकारी वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से सम्पन्न है। सभी युद्ध के लिए तत्पर है और सभी विजय की आशा लगाये हुए है।" प्रसिद्ध है कि कौरव व पाण्डव आचार्य द्रोण के आश्रम में सुशिक्षित हुए थे और श्रीकृष्ण संदीपन मुनि के आश्रम में पूर्ण शिक्षा प्राप्त करके आये हैं। महाभारत के विनाशकारी महायुद्ध ने इस देश को ऐसा जोरदार धक्का दिया कि यह प्रत्येक क्षेत्र में पतनोन्मुख होकर रसातल में पहुँच गया। विद्या बल, धन, धर्म सभी पिछड गये, स्वार्थ आपसी फूट, विलासिता, ईर्ष्याद्वेष, अविद्या, अन्धविश्वास ने ऐसा घेरा कि राजा लोग राष्ट्रहित को भूलकर स्वार्थ के लिए आपस में लड़ते रहते। सोने की चिड़िया पर बहुत समय से आँखें गड़ाई विदेशी अक्रान्ता सुअवसर जानकर आ धमके, पहले लूटा फिर राजा बन बैठे। एक देश गुलाम बन गया। महर्षि दयानन्द जब कार्य क्षेत्र में उतरे तब भारत अंग्रेजो का गुलाम था। उस समय यहाँ भारतीय शिक्षा पद्धति के नामपर आर्ष पद्धति लुप्त हो चुकी थी एवं रूढ़िवादी विचारों से ओत-प्रोत पौराणिक अनार्य शिक्षा पद्धति प्रचलित थी। सरकारी शिक्षा पद्धति के रूप में मैकाले द्वारा प्रवर्तित अंग्रेजी शिक्षा पद्धति प्रचलित थी। महर्षि जी ने देश के उत्थान के लिए आर्ष पाठ विधि को ही उपयोगी माना और पुनरोद्वार किया।[7]

तत्कालीन शिक्षा एवं महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के विचार- शताब्दियों की राजनीतिक पराधीनता ने भारत वासियों को दुर्बलता, हीन-भावना, दरिद्रता तथा अन्य विकारों से ग्रस्त कर रखा था। विदेशी शासन से उत्पन्न पराजय भाव ने भारत के विशाल हिन्दू समाज के धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों को अपूर्णनीय क्षति पहुँचायी। मध्यकालीन के इसी तमसाच्छन्न युग में भारत का पश्चिमी जातियों से सम्पर्क हुआ। अत: जब 1498 ई में पुर्तगाली नाविक वास्कोडिमागा ने अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर लगाकर केरल के समुद्र तट पर अपना जहाजी बेड़ा खड़ा किया, तो समुद्र यात्रा को कलिवर्ज्य समझने वाले इस देश के लोगों का चकित एवं भ्रमित हो जाना स्वाभाविक ही था।[8]

भारत के अपार धन–धान्य तथा असीम वैभव के आकर्षण से अन्य यूरोपीय जातियों ने भी तब से इस देश में आना जारी रखा। 1600 ई0 में इग्लैण्ड की ईस्ट इण्डिया की स्थापना हुई। ब्रिटिश सम्राट जेम्स प्रथम ने अपने वाणिज्य दूत, सर टामस रो को भारत भेजा, जिसने अजमेर में मुगल बादशाह जहाँगीर से भेंट कर अपनी जातिय लोगों को व्यवसायिक सुविधाएं देने की प्रार्थना की तथा उपहार स्वरूप अपने यहाँ की विलासिता की वस्तुएं भेंट की। सम्राट ने अंग्रेजों को व्यापार करने के लिए सूरत तथा अन्य स्थानों पर कोठियाँ स्थापित करने का अधिकार तो दिया ही, साथ ही अपनी बस्तियों में शासन करने के अधिकार भी दिये। इस प्रकार भारत में विदेशी शासन का बीजारोपण हुआ। प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता तथा वाणिज्य सम्बन्धी सुविधाओं को देखकर ही अन्य यूरोपीय जातियों ने भी भारत में आना जारी रखा। अंग्रेजों की ही भाँति डच, पुर्तगीज तथा फ्रांसिसियों ने भी इस देश में अपने व्यापार संस्थान तथा उपनिवेश स्थापित किये। कूटनीति और राजनीति में अंग्रेजों ने अपनी प्रतिद्वंद्वियों को सहज ही परास्त कर दिया। हालैण्डवासी तो यहाँ से आगे बढ़ गये और उन्होंने इन्डोनेशिया के द्वीपों पर कब्जा किया, जबकि फ्रांसीसी और पुर्तगाली भी ब्रिटिश सिंह के सामने पूर्णतया निष्प्रभाव एवं हीन तत्व होकर कुछ छोटे–छोटे उपनिवेशों तक ही अपने प्रभुत्व को सीमित रख पाये।

प्रबुद्ध राजतंत्र- दयानन्द के राजनीतिक दर्शन में मनुस्मृति तथा वेदों के विचारों का समन्वय देखने को मिलता है। मनु के अनुसार – राजा को पूर्णत: धर्म के अधीन होना चाहिए। वेदों में सभाओं और राजाओं के निर्वाचन का उल्लेख है। दयानन्द ने निर्वाचन प्रणाली का समर्थन किया। उनका कथन था कि सभा के सदस्यों में जो सर्वाधिक बुद्धिमान तथा चतुर हो उसी को राजा अथवा अध्यक्ष चुन लिया जाये। दयानन्द ने वेदों को वैज्ञानिक तथा तत्व शास्त्रीय ज्ञान का स्रोत स्वीकार किया।[9] वैदिक संस्कृति की आदि मान्यता है कि राजनैतिक सत्ता (क्षेत्र) को अध्यात्मिक तथा नैतिक सत्ता (ब्रह्म) की सहायता से कार्य करना चाहिए। इसलिए दयानन्द जी ने नैतिक पुनरूत्थान की प्राथमिकता दी। उनका आग्रह था कि राजनीतिक कारणों को नैतिक कारणों से पृथक करने की अनुमति कभी नहीं दी जा सकती। उन्होंने सदैव ही इस बात का अनुरोध किया कि राजनीतिक शासकों को आध्यात्मिक नेताओं के निर्देशन में काम करना चाहिए। अत: यह कहा जा सकता है कि दयानन्द ने धर्म निरेपक्षता तथा भौतिकवादी मान्यताओं पर आधारित राष्ट्रवाद को सदैव ही संदेह की दृष्टि से देखा, चूँकि वे संस्कृत की प्रसिद्ध सूक्ति परोपकाराय सता विभूतय: को मानने वाले थे। इसलिए मानव कल्याण की भावना से शून्य राजनीतिक उद्देश्य को वे सदैव ही बुरा मानते थे।

लोकतंत्र का सिद्धान्त तथा व्याहारिक रूप- दयानन्द जी लोकतंत्रवादी थे। लोकतंत्र के आदर्श के प्रति उनका अनुभव दो बातों से सिद्ध होता है। प्रथम –जिस आर्य समाज की उन्होंने स्थापना की उसका संगठन चुनाव पर आधारित था। नीचे से ऊपर तक वे सभी व्यक्ति चुने जाते थे, जो पदाधिकारियों अथवा किसी परिषद के सदस्यों के रूप में कार्य करते थे। निर्वाचन के सिद्धान्त को अपनाना हिन्दू धार्मिक व्यवस्था में एक क्रान्तिकारिक कदम था। हिन्दू समाज में ब्राह्मण वर्ग की सत्ता परम्परागत भावनाओं पर आधारित है किन्तु आर्य समाज में जो एक धार्मिक सामाजिक संस्था भी उसकी सत्ता चुनाव पर निर्भर थी द्वितीय– जिस आदर्श राजतंत्र की रूप रेखा उन्होंने प्रस्तुत की उसकी सरकार के सभी स्वीकृत और विधिक अंगों के निर्माण के लिए उन्होंने निर्वाचन के लोक तांत्रिक सिद्धान्त को स्वीकार किया।[10] उन्होंने धर्मार्थ सभा, विजार्थ सभा तथा राजार्य सभा नामक तीन निकायों के संगठन तथा कार्य निश्चित कर दिये। इन निकायों को नियंत्रण तथा संतुलन के सिद्धान्त का पालन करना था।

दयानन्द लिखते है, इसका अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति को स्वतंत्र राज्य करने का अधिकार नहीं देना चाहिए किन्तु राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, समाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहे।

तत्कालीन समाज की धार्मिक स्थिति और महर्षि जी का विचार- ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही ईसाई प्रचारकों की गतिविधियों ने अखिल भारतीय रूप धारण कर लिया। बंगाल प्रान्त ईसाई गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र रहा। बाइबिल का लगभग सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया तथा साहित्य एवं वाणी के माध्यम से अविश्वासी हिन्दूओं को विश्वासी बनाने का कार्य प्रारम्भ हुआ। हेयर, काल्विन, पामर, कैरी तथा मार्शमैन जैसे प्रमुख ईसाई पादरियों ने बंगाल में ईसाई धर्म की प्रचारात्मक गतिविधियों को सम्पूर्ण शक्ति से संचालित किया।[11]

ईसाईयों की ही भाँति हिन्दू धर्म एवं संस्कृति पर मुसलमानों द्वारा किया जाने वाला आक्रमण भी कम भयावह नहीं था। शताब्दियों के मुस्लिम शासन ने भारतवासी मुसलमानों में यह विचार दृढ़तापूर्वक आरोपित कर दिया था कि विधाता ने हिन्दूओं को उनके द्वारा शासित होने के लिए उत्पन्न किया है फिरंगी राज्य की स्थापना के पश्चात् मुसलमानों में व्याप्त शासनजन्य अहंकार की समाप्ति हो गयी किन्तु ईसाई शासकों को एक सिमेटिक पैगम्बरी मजहब का अनुयायी होने के कारण हिन्दूओं की अपेक्षा अपने अधिक निकट मानते थे, क्योंकि मान्यताओं और विश्वासों की दृष्टि से इस्लाम और ईसाईयत का मूल स्रोत एक ही है और ईसाई भी फूट डालो राज्य करो की नीति से मुसलमानों को कुछ ज्यादा प्रश्रय देने लगे जिससे हिन्दू तथा मुसलमानों में एक दूसरे से अलगाव की प्रवृत्ति को जन्म दिया।[12] अब तक तो वे ताकत के बल पर ही भारत में शासन करना चाहते थे लेकिन कम्पनी के हाथ से सत्ता 1858 में महारानी विक्टोरिया के हाथ में हस्तानान्तरण से धर्म निरेपक्ष की नीति की भारत में घोषणा महारानी द्वारा की गई तब ईसाईयों को अपनी नीति में परिवर्तन करने पर मजबूर होना पड़ा। धर्मनिरपेक्ष की नीति से तो यहाँ की हिन्दू तथा मुस्लिम जातियों को प्रजा मानकर संरक्षण दिया गया परन्तु इस्लाम के मुल्ला-मौलवी, फकीर, हिन्दू धर्म की दुर्बलताओं तथा उनके मतमतान्तरों का उपहास करने लगे ओर हिन्दू धर्म की कटु आलोचना करने में मुस्लिमों की वाणी तथा लेखनी कटु हो गयी। मध्यकालीन हिन्दू धर्म भी अपनी पुरातन कालीन विशुद्धता, तर्क मूलता तथा वैचारिक उदारता खो कर मूढ़ विश्वासों, पाखण्डों, विषमताओं, कर्मकाण्डों और बाह्य आडम्बरों का पुंज मात्र रह गया था। अत: उनका एकेश्वरवाद तथा बन्धुत्ववाद के प्रचारक इस्लाम की आलोचना का पात्र बन जाना स्वाभाविक था।[13]

इस्लाम तथा ईसाईयात के द्विविध वैचारिक आक्रमणों में ईसाइयत द्वारा किया जाने वाला प्रहार अधिक घातक तथा प्रभावी सिद्ध हुआ। ईसाई प्रचार के दो रूप सामने आये। प्रथम के अन्तर्गत कार्य करने वाले वे पादरी थे जो जन-जन के ईसाई विश्वासों के प्रति आस्था एवं श्रद्धा जगाने के लिए ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में भ्रमण कर व्यवस्थित रूप से प्रचार कार्य कर रहे थे। ईसाई धर्म ग्रन्थों का प्रचार और प्रसार करना लोक भाषाओं में हिन्दू धर्म की आलोचना के व्याख्यान देना, हिन्दू धर्म ग्रन्थों एवं देवी देवताओं का चित्रण कर उनका उपहास करना, यत्र-तंत्र पंडितों-पुरोहितों से बाद-विवाद कर उन्हें पराजित कर देना इसी कार्य प्रणाली के प्रमुख अंग थे।[14]

ईसाई धर्म प्रचार का अपेक्षित परिणाम निकला। अत्यधिक भावुक बंगाली हिन्दू सर्वप्रथम ईसाई धर्म की मृगतृष्णा के शिकार हुए। मधुसुदन दत्त, लालबिहारी, कालीचरण चटर्जी गोविन्द दत्त यहाँ तक की भारतीय नेशलन कांग्रेस के प्रथम सभापति

व्योमेश चन्द्र बनर्जी आदि कुलीन बंगाली हिन्दू स्वधर्म का परित्याग कर ईसाई बन गये। महाराष्ट्र में पंडित श्री कंठ शास्त्री तथा संस्कृत विदुषी रमावाई भी ईसाई बन जाने का लोभ संवरण कर लिया था।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ यूरोप में प्रचलित ज्ञान-विज्ञान तथा नूतन आविष्कारों का भारत में भी प्रचलन हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के कारक यूरोप के जन जीवन में जो परिवर्तन आया था, उसके लक्षण कपड़ा मिलों तथा वृहद उद्योगों की स्थापना के साथ भारत में भी दिखाई देने लगे। रेल, तार, डाक आदि के कारण जहाँ भारतवासियों का दैनिक जीवन अनेक सुविधाओं से युक्त होने लगा, वहाँ सम्पूर्ण देश में एकात्मकता के भाव दिखने लगे।[15] मैकाले की शिक्षा नीति ने भारत में एक ऐसा वर्ग बना दिया जो अंग्रेजी पढ़े लिखे नौजवान अंग्रेजो की गुलामी करने से शर्मिन्दा नहीं होते थे तथा अपने हिन्दू समाज, मुस्लिम समाज और ईसाई समाज के बीच मध्यस्थता का कार्य करते थे। अंग्रेजों ने 1853 तक जो शिक्षा का भारत में कम्पनी अधिकारियों द्वारा प्रदान की जाती थी, ने कोई उत्साह नही दिखाया। लन्दन विश्वविद्यालय के अनुकरण पर ही मद्रास, कलकत्ता, बम्बई प्रसेडेन्सी राज्यों में विश्वविद्यालयों की स्थापना 1857 में की गयी। 1857 में ही भारतीय स्वतंत्रता के अन्दर धार्मिक स्वतंत्रता के लिए विद्रोह हुआ तथा इसमें हिन्दूओं की सबसे उत्साह पूर्ण सहयोग रहा तब इस विद्रोह का बड़ी क्रूरता पूर्वक दमन किया गया। 1857 में कम्पनी के हाथ से सत्ता का हस्तानान्तरण ब्रिटिश रानी विक्टोरिया के हाथ में दिया गया। तब विक्टोरिया ने भारत में धार्मिकता की धर्म निरपेक्ष नीति घोषित की तथा शिक्षा का भार कम्पनी के हाथ में ही रहा। इसके बाद से कम्पनी के अधिकारी भारतीयों को शिक्षित करने की नीति से उदास होकर ज्यादा पैसा ईसाई पादरियों पर खर्च करने लगे।[16] इसके परिणाम स्वरूप तीन प्रकार की शिक्षा की व्यवस्थाएँ चालू हो गयी जो संस्थाएं पूर्व से ही चल रही थी, संस्कृत आधारित शिक्षा, अरबी, फारसी मुस्लिम शिक्षा तथा अंग्रेजी शिक्षा। संस्कृत शिक्षा ब्राह्मण कर्मकाण्डों तथा यज्ञों, मंत्रों तक ही सीमित रह गयी तथा मुस्लिम शिक्षा कुरान तक ही सीमित रह गयी थी। अब कम्पनी के अधिकारियों ने अंग्रेजी पढ़े भारतीयों को नौकरी के लिए वरीयता देने लगे। इससे भारतीय हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा पद्धति पर आधारित शिक्षा ग्रहण करने लगे। लेकिन अंग्रेजी शिक्षा की प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय शिक्षा तथा पाश्चात्य शिक्षा साथ-साथ देनी वाली संस्थाएं भी खुल गयी जैसे काशी विद्यापीठ, जामिया मिलिया और गुरुकुल। इसके विपरीत अंग्रेजी स्कूलों और कालेज में यूरोपीयन अध्ययन पर नहीं बल्कि अंग्रेजी पर अधिक जोर दिया जाने लगा। अत: विद्यार्थी इग्लैण्ड के पशु-पक्षी, ग्राम-पुष्प एवं अंग्रेजी साहित्य और इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने में जुट गये। दोनों प्रकार की शिक्षा देनी वाली संस्थाओं को कोई सरकारी संरक्षण नहीं मिला तो ये राष्ट्रीय भावना और भारतीयता जाग्रति करने का प्रयत्न करती थी इसलिए राष्ट्रीय भावना वाले विद्यार्थी इनकी ओर अधिक आकृष्ट होते थे।[17]

इसी समय में महर्षि दयानन्द जी ने निर्भीकता तथा सत्यता से भारतीय हिन्दूओं को अपने भारतीय गौरव पूर्व इतिहास वैदिक शिक्षा की ओर लौटने का उपदेश देना शुरू किया तथा इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए 1875 में आर्य समाज की स्थापना की तथा विचार व्यक्त कर उपदेशित किया कि कोई भी राष्ट्र पराधीन होकर अपने अतीत के गौरव पूर्ण इतिहास तथा शिक्षा को पूर्ण नहीं कर सकता है।

वर्तमान सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द सरस्वती के शैक्षिक विचारों की प्रासंगिकता- वैदिक शिक्षा का आधार वेद था। वेद विद् धातु से बना है जिसका अर्थ है, ज्ञान, चारों वेदों को शिक्षा का आधार बनाया गया। शिक्षा वर्ण व्यवस्था के अनुसार दी जाती थी। सभी वर्णों को समान शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। वर्ण शिक्षा के अनुसार ब्राह्मण की आजीविका पठन-पाठन, यज्ञ तथा प्रशासन का कार्य क्षत्रियों को निश्चित किया गया था। व्यवसाय, व्यापार तथा अर्थोपार्जन वैश्यवर्ण का कार्य था।

इसलिए उन्हें विविध व्यवसायों की शिक्षा दी जाती थी। श्रम एवं सेवा के द्वारा तीनों वर्णों की सहायता करना शूद्रों का कार्य था। इनके लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। आर्यों का विश्वास था कि शिक्षा के द्वारा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। ज्ञान को मनुष्य का तीसरा नेत्र माना गया था। विद्या के समान कोई नेत्र नहीं है और सत्य के समान कोई तपस्या। भर्तहरि ने अपने नीतिशतक में लिखा है, विद्या विहीन: पशु:। ऋग्वेद में कहा गया है– विद्या सभी के नेत्र है जिसके नहीं है वह अन्धा है। प्राचीन वैदिक काल में शिक्षा की भूमिका जीवन को प्रकाशित करके बुराईयों को दूर करने तथा मार्गदर्शन करने में थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि शिक्षा न केवल वर्तमान जगत के लिए शुभकारक हैं बल्कि अभौतिक संसार के लिए भी चेतना उत्पन्न करती है। इसलिए दोनों लोकों के साधन के रूप में विद्या का अध्ययन किया जाता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि शिक्षा अतिरिक्त आँख और कान है।

प्राचीन काल में शिक्षा के मुख्य पाँच लक्ष्य थे–

1. ईश्वर भक्ति एवं धार्मिकता
2. चरित्र निर्माण
3. व्यक्तित्व का विकास
4. सामाजिक एवं नागरिक कर्त्तव्यों का पालन
5. संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार
6. और उपरोक्त के आधार पर मोक्ष की प्राप्ति

(1) वैदिक काल का समाज धर्म और धार्मिक मान्यताओं में विश्वास करता था। शिक्षा देने वाले धार्मिक व्यक्ति ऋषि या तपस्वी हुआ करते थे आश्रम पूर्णरूप से स्वतंत्र होते थे, वे धार्मिक संस्कारों के साथ शिक्षार्जन कराते थे। शिक्षा के द्वारा आध्यात्मिक गुणों का विकास करते थे और इन गुणों से युक्त व्यक्ति जब समाज में जाता था तो धर्मनिष्ठ होकर अपने वैयक्तिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्वहन अच्छे ढंग से करता था। इसी उद्देश्य के कारण वैदिक समाज का स्वरूप धार्मिक बना था।

(2) वैदिक काल का दूसरा उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना था। चरित्र कर्त्तव्यों के अतिरिक्त मूल्यों और आदर्शों का नियोजन भी था। चरित्रवान व्यक्ति पर आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव पड़ता था, जिसके कारण वह वैयक्तिक जीवन में ईमानदार और परोपकारी, त्यागी तथा दूसरों के साथ सहयोग को महत्व देता था।

(3) वैदिक कालीन शिक्षा का तीसरा उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास करना था। व्यक्तित्व के विकास का अर्थ था, आत्मसम्मान, आत्म नियत्रंण तथा आत्मानुभूति का विकस करना। आत्मानुभूति का तात्पर्य है अपने को जानना (मैं क्या हूँ?)। ''मैं'' का ज्ञान केवल विद्या से हो सकता है।[18] इसलिए वैदिक काल में आर्ष ग्रन्थों के द्वारा ''मैं'' के ज्ञान से उन्हें सांसारिक मोह और आकर्षणों से छुटकारा दिलाता था, इसके द्वारा ही आत्मनुभूति प्राप्त होती थी। इसी अनुभूति के कारण जीवन में सुचिता, अहिंसा, परोपकार जैसे मूल्यों का विकास करके व्यक्तित्व विकास को आयाम दिया जाता था। इन आन्तरिक गुणों के अतिरिक्त शारीरिक विकास

करना व्यक्ति का दूसरा पहलू था। शरीर को धर्म साधना का साधन माना गया शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनाय। अत: संयम, नियम व्यायाम तथा सात्विक भोजन ब्रह्मचर्य आदि पर बल देकर शरीर को सुसंगठित बनाया जाता था। इस तरह से वैदिक आश्रम व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने पर बल देते थे।

(4) वैदिक काल में शिक्षण का चतुर्थ उद्देश्य सामाजिकता एवं सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन का प्रशिक्षण देना था। उसे अनुभव कराया जाता था कि उसके ऊपर तीन ऋण आरोपित हो रहे है- प्रथम दैव ऋण, द्वितीय- मातृ ऋण, तृतीय- गुरू ऋण अध्यात्मिक चेतना और आत्मानुभूति के द्वारा व्यक्ति ईश्वर में आस्था रखकर अपने जन्म से सुरक्षा और कल्याण के लिए ईश्वर की भक्ति करता था। माता पिता की सेवा, उनके आदेशों का पालन करना संतति का विकास करके वह इन दैव ऋण तथा मातृ ऋण से व्यक्ति उऋण होने का प्रयास करता था। तीसरा गुरू ऋण था, जिसके लिए गुरु के द्वारा प्रदत्त ज्ञान को समाज में प्रचारित प्रसारित करना था। गुरु के आदर्शों पर चलकर समाज में अपनी पहचान बनाना इसका लक्ष्य था। वर्ण व्यवस्था में अलग-अलग सामाजिक कर्त्तव्य बताये गये है।19 उदाहरण के लिए ब्राह्मण के लिए अध्ययन अध्यायपन, यज्ञ करना इत्यादि था। क्षत्रियों पर समाज की रक्षा का उत्तरदायित्व एवं वैश्य को आर्थिक रूप से समाज को सम्पन्न बनाने का कार्य करना था। मनुस्मृति में लिखा गया है ब्राह्मण को पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना दान लेना-देना ये छ: कर्म है। क्षत्रियों के लिए मनुस्मृति में कहा गया कि प्रजा की रक्षा करना, दान देना, अग्नि होत्र, शौर्य शासन, सैनिक कर्म करना धर्म है। मनुस्मृति में वैश्यों के लिए कहा गया पशु पालन, दान अग्निहोत्र, अध् ययन, व्यवसाय, व्यापार कृषि वैश्यों के गुण कर्म है इन्हीं कत्र्तव्यों के आधार पर विद्यार्थियों में सामाजिक गुणों का विकास किया जाता था। शूद्रों को विद्या धन से वंचित रखा गया है लेकिन महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसे स्वीकार नहीं किया उनका कहना था कि ऐसे बहुत से प्रमाण है जहाँ शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार था।

(5) वैदिक काल में राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार करना पाँचवाँ महत्वपूर्ण उद्देश्य है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संस्कृतियों का हस्तान्तरण करना तथा उनको वैदिक माध्यम से सुरक्षित करने का प्रयास किया जाता था, जिससे कि प्राचीन भारतीय मूल्य, परम्परायें, रहन-सहन, सामाजिक मानदण्ड, आदर्श एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमित होवे और पीढ़ियां उसका अनुपालन करें। आधुनिक मनोविज्ञान जीवो को उद्बुद्ध व अनुबुद्ध भेद से दो वर्गों में विभक्त करता है। उदबुद्ध जीवन में ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा भेद से मनुष्यों की प्रवृत्तियों में भेद होता है। इस भेद ही के कारण व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, अथवा वैश्य बनता है, जिनमें इन तीनों में से एक भी विशेषता नहीं होती वे अनुद्बुद्ध जीव शूद्र होते है। आज का मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता कि कोई ऐसा भी हो सकता है। कि जो बिना धन की चिन्ता किये मात्र ज्ञान संग्रह में और उसके वितरण (प्रसार) में अपना जीवन लगा दे या बिना धन की प्राप्ति के वह राष्ट्र के लिए मरने मिटने के लिए तैयार रहें। प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्य निर्दिष्ट कर देने के उपरान्त महर्षि लिखते हैं कि वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्यजन का काम है।[20]

यजुर्वेद में कहा गया है कि जो व्यक्ति नहीं देता है, सम्राट उससे दिलवाता है। यदि ब्राह्मण विद्या का क्षत्रिय शक्ति का तथा वैश्य अपने धन का दान राष्ट्र के निमित्त नहीं करता तो राजा उससे करवाता हैं। राजा के अतिरिक्त इन तीनों पर अपनी-अपनी शिक्षण संस्थाओं, गुरूओं व आचार्यों का तथा मान्य तपस्वी संन्यासियों का नैतिक दबाव इतना रहता है कि सभी अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक रहते है। यह सत्य है कि वर्ण व्यवस्था में प्रत्येक वर्ण अपने कर्त्तव्य का पालन करता है और परिणाम स्वरूप

उन्हें क्रमशः सम्मान प्रभुत्व तथा धन सम्पत्ति की प्राप्ति होती हैं किन्तु उन्हें इनके मद में उन्मत्त होकर उसका दुरूपयोग करने का अधिकार नहीं दिया गया। ब्राह्मण को तो यहाँ तक कहा है–ब्राह्मण सम्मान से विष की तरह दूर रहे, अपमान की अमृत की तरह आकांक्षा करें, तथा क्षत्रिय को प्रभुत्व देकर सावधान किया और सत्य से डिगने वाले क्षत्रिय को दण्डशक्ति ही उसके बंधु–बाधवों के साथ नष्ट कर डालता है। मुस्लिम कालीन शिक्षा तथा उसका तत्कालीन समाज पर प्रभाव मुस्लिम शासन 12वीं शताब्दी से लेकर अट्ठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक रहा। इस काल में साम्राज्य का विस्तार अधिक हुआ शिक्षा का प्रचार–प्रसार कम हुआ। क्योंकि मुस्लिम शासकों का उद्देश्य केवल भौतिक सुखों को प्राप्त करना और इस्लाम धर्म का प्रचार–प्रसार करना था। इस काल में शिक्षा मकतब और मदरसों में ही दी जाती थी। ये मकतब और मरदसे मस्जिदों से जुड़े रहते थे। जिसमें धर्म गुरू मौलवी शिक्षा देता था। जिनकी शिक्षा के उद्देश्य थे –

1. इस्लाम धर्म का प्रसार करना।
2. इस्लाम संस्कृति का प्रसार करना।
3. मुसलमानों में ज्ञान का प्रसार करना।
4. मुस्लिम शासन को सृदृढ़ करना।
5. सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति करना।

पाठ्यक्रम मे लौकिक तथा परलौकिक दोनों चीजें पढ़ाई जाती थी। लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत अरबी, फारसी, दर्शनशास्त्र, कानून, यूनानी चिकित्सा, कृषि, हस्तशिल्प कार्य आदि विषय आते थे। शिक्षा का माध्यम अरबी–फारसी था परन्तु वाद में उर्दू के माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी। इस काल में सबसे उपेक्षित शिक्षा लड़कियों की थी। लड़कियों को सार्वजनिक मकतब और मदरसे में प्रवेश नहीं दिया जाता था। इन्हें घर पर ही बुजूर्ग महिलाएं मौलवी या विधवा स्त्रियाँ पढ़ाया करती थी।[21] उल्लेख मिलता है कि कहीं–कहीं हिंजड़ों से भी शिक्षा दिलायी जाती थी। इस काल में दस्तकारी, ललित कला जैसे व्यवसायों की शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। मलमल का कार्य, हाथी दांत, दस्तकारी, हस्तकला कौशल आदि का खूब विकास हुआ।

मुस्लिम आक्रमणकारियों तथा शासकों के द्वारा प्राचीन हिन्दू संस्थाओं को नष्ट कर दिया गया। भारतीय संस्कृति को नष्ट करने का प्रयास चलता रहा। एक तरफ जहाँ मुसलमान शासकों ने भारत में मुस्लिम संस्कृति का प्रसार व भारतीय संस्कृति को नष्ट कर रहे थें वही अनेक हिन्दू सन्त, महात्मा, साधु उत्पन्न हुए, जिन्होंने प्राण प्रण से हिन्दू संस्कृति के दीपक को जलाए रखा। शासकों के प्रतिरोध के बावजूद भी प्राचीन हिन्दू शिक्षा अपने गुरूओं के त्याग तथा जन साधारण के लगाव के कारण जीवित रही वरन् इस काल में अमर साहित्य को जन्म दिया।[22] लगभग छः सौ वर्ष तक मुस्लिम शासकों का ध्यान साम्राज्य विस्तार एव धर्म प्रसार में था। युद्ध एवं विद्रोह की आशंका से जूझते हुए मुसलमान शासकों द्वारा शिक्षा पर विशेष ध्यान न दिया जाना कोई विशेष आश्चर्य की बात न थी। परन्तु भारत में शासन करने वाले कुछ मुसलमान शासक उदार और सहिष्णु थे जैसे इल्तुतमिश, मुहम्मद तुगलक, अकबर, शाहजहाँ जैसे उदार शासकों ने शिक्षा के प्रति रूचि प्रकट करते हुए उसे राजकीय संरक्षण दिया। जिसके परिणाम स्वरूप शिक्षा का विस्तार हुआ परन्तु अलाउद्दीन खिलजी, फिरोज तुगलक तथा औरंगजेब जैसे अनुदार व कट्टर शासकों ने प्राचीन शिक्षा प्रणाली तथा हिन्दू संस्कृति का विनाश करके मुस्लिम शिक्षा तथा इस्लामिक

संस्कृति के प्रसार को ही अपना मात्र एक लक्ष्य माना।[23] इस्लामिक शिक्षा में धार्मिक कट्टरता लोक भाषाओं की उपेक्षा, स्त्री शिक्षा की उपेक्षा सांसारिक पक्ष पर अधिक बलदेना, हिन्दुओं की शिक्षा की उपेक्षा करना इत्यादि दोष थे।

ब्रिटिश कालीन शिक्षा तथा उसका तत्कालीन समाज पर प्रभाव- सत्रहवीं सताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप व अन्य देशों की व्यापारिक कम्पनियाँ यथा डच, डेनीस, फ्रांसीसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी जातियों के लोग व्यापार करने के लिए भारत आये और विभिन्न बन्दरगाहों पर अपने व्यापारिक केन्द्र की स्थापना की। व्यापारिक कम्पनीयों के साथ-साथ ईसाई मिशनरियाँ भी आयी, जिन्होंने धर्म के प्रचार का कार्य शुरू किया।[24] ये कम्पनियाँ आपस में प्रतिद्वन्दी थी, जिसके कारण संघर्ष होने लगे। अन्त में ब्रिटिश कम्पनी विजयी हुयी और भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपना शासन कुछ दृढ़ हो जाने पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तत्कालीन तीनों प्रेसीडेन्सी (कलकत्ता, बम्बई, मद्रास) में देशी शिक्षा की जाँच करायी इन रिपोर्टो के आधार पर यह पाया गया कि देशी-शिक्षा भारतीय परम्परा पर आधारित थी और स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित होती रहती थी। इनमें शिक्षा का माध्यम संस्कृत, अरबी, फारसी, भाषाये होती थी। शिक्षा नि:शुल्क थी, राज्य द्वारा शिक्षा में कोई हस्तक्षेप नहीं था, लेकिन देशीय विद्यालयों का पतन हो रहा था। उसके कई कारण थे, इसका पाठ्यक्रम संकुचित था। पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान एवं साहित्य को पाठ्यक्रम में स्थान नहीं दिया गया था।[25] देशी पाठशाला में देशी एवं अयोग्य शिक्षक शिक्षण कार्य कर रहे थे, जिनका वेतन बहुत अल्प था। महिलाओं तथा अछूतों के साथ शिक्षा में भेदभाव किया जाता था छात्रों को शारीरीक दण्ड दिया जाता था, देशी विद्यालयों का अद्योपतन का कारण देश की आर्थिक स्थिति की अवनति थी। अंग्रेजी शासन ने देशी शिक्षा और विद्यालय पर कोई ध्यान न देकर पृथक से ईसाई स्कूलों की स्थापना की जिससे यह शिक्षा और उपेक्षित होकर जीर्ण-क्षीण हो गयी। ईस्ट इण्डियाँ कम्पनी ने धार्मिक तटस्थता की नीति अपनायी हिन्दू और मुस्लिम वर्गों को संतुष्ट करने का प्रयास किया। इसके लिए 1818 में कलकत्ता में मदरसा स्थापित किया गया वही 1791 में बनारस में संस्कृत पाठशाला स्थापित किया गया और कम्पनी के नवयुवकों को पढ़ने के लिए 1800 में फोर्ट विलियम कालेज स्थापित हुआ। इसके अतिरिक्त श्रीमती कैम्पवेल, डा् एन्ड्रवेल, वारेन हेस्टिंग्स आदि ने शिक्षा के क्षेत्र में प्रयास किया। सन् 1813 में कम्पनी के आज्ञा पत्र में कम्पनी का प्रमुख उत्तरदायित्व भारतीयों में शिक्षा प्रसार को घोषित किया गया, लेकिन 1833 में प्राच्य एवं पाश्चात्य विवाद शुरू हुआ जो 20 वर्षों तक चलता रहा।[26] शिक्षा में कोई उन्नति नहीं हुयी। 1833 में ब्रिटिश संसद ने कम्पनी के लिए नया पत्र जारी किया जिसमें शिक्षा अनुदान को बढ़ा दिया गया तथा गर्वनर जनरल की कांउसिंल में एक सदस्य संख्या बढ़ाई गयी जिस पर मैकाले की नियुक्ति हुई। मैकाले पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान का समर्थक था। तत्कालिक गर्वनर जनरल विलियम वेटिंक ने प्राच्य और पाश्चात्य विवाद को हल करने के लिए शिक्षा समिति का अध्यक्ष मैकाले को नियुक्त किया। 8 फरवरी सन् 1835 को मैकाले ने अपना विवरण पत्र प्रस्तुत किया, यही से अंग्रेजी शिक्षा के युग की नीतिगत रूपरेखा तैयार हुई मैकाले की योजना थी कि भारत वर्ष में एक नवीन वर्ग बनाया जाये जो भारतीयों से अलग हो। उसके इस विचार को कैम्ब्रीज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग 6 पृष्ठ 3 में लिखा गया है कि "भारत में एक ऐसा समुदाय बनाने का प्रयास करना चाहिए, जो रक्त एंव रंग में भारतीय और चिन्तन में अंग्रेजियत से युक्त हो।" मैकाले ने भारतीय साहित्य को बहुत संकुचित माना और कहा कि यूरोपिय पुस्तकों की एक अलमारी भारत तथा भारत के सम्पूर्ण साहित्य से कम महत्वपूर्ण नहीं है। यहाँ के भूगोल, इतिहास, दर्शन, साहित्य, संस्कृत सभी विषयों का उसने मजाक उड़ाया और पाश्चात्य ज्ञान को सर्वोपरि माना।[27] अंग्रेजी को विश्व के सम्बन्धों की भाषा कहा मैकाले अंग्रेजी शिक्षा का जोरदार समर्थन करते हुए कहा कि सरकार के पास इतना धन नहीं है कि वह

पूरे भारत में जन शिक्षा की व्यवस्था कर सके। अत: सरकार को केवल कुछ उच्च वर्ग के लोगों की शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए। उच्च वर्ग के शिक्षित होने से निम्न वर्ग में शिक्षा स्वयं छन-छन कर पहुँच जायेगी। विलियम बेंटिक ने मैकाले का यह विवरण पत्र स्वीकार कर लिया। आज स्वतंत्रता के बाद इक्कीसवीं सदी में भी हम मैकाले की शिक्षा पद्धति से स्वतंत्र नहीं हो पा रहे है। इस शिक्षण पद्धति से भारत वर्ष में एक अलग वर्ग स्थापित हुआ जिनकी संस्कृति, मूल्य, विचार तथा व्यवहार अंग्रेजों जैसे थे जिनकी मानसिकता ने प्राचीन वैदिक ज्ञान को अस्वीकार कर दिया महर्षि दयानन्द सरस्वती का उदय जिस समय हुआ उस समय प्राच्यज्ञान विज्ञान लुप्त हो चुका था।[28] संकीर्ण एवं रूढ़िवादी विचारों से ओत-प्रोत पौराणिक अनार्य पद्धति प्रचलित थी। सरकारी शिक्षा पद्धति के रूप में मैकाले द्वारा परिवर्तित अंग्रेजी शिक्षा का बोलवाला था। अंग्रेजों की नीति फूट डालो और राज्य करो को अवसर मिल गया था। महर्षि ने अनुभव किया कि भारतीय परिवारों में एवं समाज में जितनी भी कुरीतियाँ अज्ञान, अशिक्षा फैली हैं उनका स्रोत पौराणिक शिक्षा पद्धति भी है। इसी पद्धति में अधिकांश नर-नारियों को शिक्षा से बंचित किया, इसी ने नारी को उपेक्षणीय बनाया, इसी ने समाज में जातिपाँति, छूआ-छूत, ऊँच-नीच का भेद भाव उत्पन्न किया। इसी ने समाज में विघटन के बीज बोयें। इसी पद्धति ने भारतीय व्यक्ति एवं समाज को अन्धविश्वास में भटकाकर उनके विकास को रोका। इसी शिक्षा के द्वारा बाल-विवाह, सतीप्रथा, अनमेल विवाह, बहु विवाह आदि कुप्रथायें प्रचलित हुई। इसने धर्म से भी लोगों को वंचित किया अत: महर्षि ने इसको बन्द करने का आहवान किया और आर्य पाठ विधि के मध्यम से वेदों की ओर लौटने का संदेश दिया।

पौराणिक शिक्षा पद्धति के विरोध के बाद अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का विरोध किया, क्योंकि इन शिक्षा पद्धतियों में भारत का कल्याण नहीं देखते थे। वे अंग्रेजों की कूटनीति समझ चुके थे। उन्होंने अनुभव किया कि अंग्रेजी शिक्षा पद्धति से भारत की स्वभाषा, स्वप्रेम, स्वसंस्कृति, सभ्यता राष्ट्र का रूझान, स्वपरम्पराओं का विलोप किया जा रहा है। उन्होंने प्राचीन आश्रम शिक्षा के पठन-पाठन विधि को भारत के पुनरूत्थान एवं उन्नति तथा सुख के लिए उपयुक्त माना। महर्षि जी ने संस्कृत के पठन-पाठन पर बल दिया तथा वैदिक ज्ञान को सर्वोत्तम ज्ञान बताया। उन्होंने कहा है- मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि देश में सभ्यता का सूर्य चमके और वेदों का सत्य ज्ञान चमके तो अज्ञानी भारत का अन्धकार जिसने जनता को अधोगति में डाल दिया है एक दिन अवश्य दूर हो जायेगा।

यद्यपि अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारत वर्ष में यूरोपीय ज्ञान विज्ञान की नींव पड़ी।29 गोखले जैसे नेताओं ने भी इसे समर्थन दिया, लेकिन अंग्रेजी शिक्षा की इसलिए भी उन्नति हुई क्योंकि 1854 की वुड घोषणा पत्र से शिक्षा को ज्ञान से नहीं अपितु नौकरियों से जोड़ दिया गया। भारतीय समाज उच्च वर्ग तथा निम्नवर्ग में बँट गया। उच्च वर्ग में अंग्रेजी शिक्षा का आकर्षण बढ़ने लगा। शासन-प्रशासन में अंग्रेजी शिक्षा को महत्व दिया जाने लगा ऐसी परिस्थिति में दयानन्द सरस्वती का वैदिक शिक्षा का प्रसार बहुत ही महत्वपूर्ण था। उस काल में कुछ एक बड़े राजा-रजवाड़ों तथा जमींदारों ने भी आर्य समाज को अपनाया तथा अंग्रेजी ज्ञान विज्ञान का प्रवाह कम हुआ। स्थान-स्थान पर डी.ए.वी. विद्यालयों की स्थापना की गयी लेकिन प्रवाह इतना तेज था कि उसमें दयानन्द सरस्वती जैसे चिंतक अकेले पड़ने लगे। फिर भी इन्होंने प्रचार-प्रसार नहीं छोड़ा। ये भी कहना त्रुटिपूर्ण नहीं होगा कि दयानन्द की शिक्षा का विरोध एवं धर्म प्रचार का विरोध पौराणिक अनुयायियों ने अंग्रेजों से अधिक किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती की आधी शक्ति इन विरोधियों के तर्कों का जबाब देने में लगी रही। यदि ऐसा नहीं होता तो आज भारत वर्ष की पहचान एक अलग देश के रूप में होती।

प्राचीन तथा आधुनिक शिक्षा के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द जी के विचारों की प्रासंगिकता- प्राचीन काल– वैदिक और बौद्ध काल में गुरू–शिष्य सम्बन्ध भौतिकता पर आधारित नहीं था, वरन् आध्यात्मिकता के उच्च आदर्शों पर आधारित था। प्रभावात्मक अनुशासन के द्वारा विद्यार्थी गुरूओं से अभिप्रेरित होकर जीवन को नियंत्रित करते थे। आत्मनियत्रंण, इन्द्रिय नियंत्रण पर विशेष ध्यान देते थे। उस काल में ब्रह्मचारी (शिष्य) अनुशासित जीवन के नियमों का पालन करते थे, जैसे प्रात: कालीन उठना, सन्ध्योपासना, आश्रम की देख–भाल करना, अध्ययन करना, आज्ञा पालन, गुरू सेवा इत्यादि उनके कर्तव्य होते थे। जीवन को नियंत्रित करने के लिए प्रात: जागरण, स्नान, जीवन की पवित्रता, अहिंसा, झूठ न बोलना, चोरी न करना, मादक पदार्थ से दूर रहना, सांसारिक आकर्षणों से दूर रहने आदि नियमों का पालन करते थे, जिसके कारण आश्रम–व्यवस्था, मठ एवं विहारों में अनुशासन की कोई समस्या नहीं थी। शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था शारीरिक दण्ड का प्रचलन मध्य काल से हुआ। महर्षि दयानन्द सरस्वती का विचार था कि अनुशासनहीनता की जड़ विद्यार्थियों के अन्दर छिपा हुआ दोष ही है। यदि इन दोषों से निवृत्ति पा ली जाये, तो जीवन स्वयंमेव अनुशासित बन जाता हैं जैसा कि उद्योग पर्व में उद्धृत किया गया है– “शरीर आलस्य और बुद्धि में जड़ता, नशा, मोह, किसी वस्तु में फंसावट, चपलता, इधर–उधर की बाते सुनना व कहना, अभिमानी, अत्यागी होना ये विद्यार्थियों के दोष थे, इनसे विद्या नहीं आती।“

महर्षि जी ने वैदिक काल के अनुशासन को स्थापित करने के लिए बनाये गये नियमों से पूरी तरह सहमत थे और वैदिक विद्यालयों में ऐसे अनुशासन की संकल्पना करते थे। महर्षि जी का विचार अनुशासन के सम्बन्ध में अन्य शिक्षा–दार्शनिकों से पृथक था।[30] उन्होंने सत्यार्थ–प्रकाश में उल्लेख किया है कि ''जो माता–पिता और आचार्य संतान की ताड़ना करते है वे अपनी संतानों और शिष्यों को अमृत पिला रहे है और जो अपने संतानों और शिष्यों का लाड़न करते है वे उनको विष पिलाकर नष्ट–भ्रष्ट कर देते हैं, क्योंकि लाड़न से संतान और शिष्य दोषी तथा ताड़न से गुनी होते हैं और लोग भी ताड़न से प्रसन्न और लाड़न से दूर रहें तभी समाज और देश का भला होगा। महर्षि जी विद्यार्थियों को मानवीय मूल्यों की शिक्षा इसलिए देते थे कि जिससे समाज में सभी के साथ समन्वय की भावना उत्पन्न हो सके।

नैतिक, चारित्रिक एवं मूल्यों के सृजन के लिए महर्षि दयानन्द के विचारो की प्रासंगिकता- मनुस्मृति में उल्लेख मिलता है कि वे ब्राह्मण जिन्होंने चारों वेदों, शास्त्रों की विद्या प्राप्त करली हो लेकिन उनके चरित्र ठीक नहीं है तो उसका आदर नहीं करना चाहिए। इस विचार का महर्षि जी पूर्ण रूपेण समर्थन करते है। चरित्र और नैतिकता जगत का सर्वोत्तम गुण माने जाते हैं क्योंकि इसके बिना दोनों जीवन की सफलता संदिग्ध है। अत: वे शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों में चारित्रिक एवं नैतिक गुणों के विकास पर विशेष बल दिया करते थे। नैतिकता का उन्होंने बहुत व्यापक अर्थ लिया है उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में उल्लेख किया है कि जो सदा नम्र सुशील, विद्वान और वृद्धों की सेवा करता है उसकी आयु, बल, यश और विद्याएं ये चार बढ़ते है जो ऐसा नहीं करते उनके, बल, यश, आयु व विद्या ये चार नहीं बढ़ते।[31] महर्षि जी चरित्र का भी अर्थ व्यापक सन्दर्भों में लिया करते है वे चरित्र को कर्म, धर्मभाव और क्रिया तीनों में परखते है, जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है कि “माता–पिता, आचार्य एवं गुरू, अतिथि की पूजा, देव की पूजा हो और जो कर्म से देश का उत्थान हो उसी को करना चाहिए और कभी लम्पट, नास्तिक, चोर, स्वार्थी, कपटी, छली आदि दुष्ट मनुष्यों का संग न करें।“ महर्षि जी आन्तरिक पवित्रता को महत्व देते है। वे बाह्य आडम्बर में विश्वास नहीं करते है। उनसे एक बार किसी ने प्रश्न पूछा कि क्या आर्यावर्त देशवासियों का किसी दूसरे देश में जाने से चरित्र नष्ट हो जाता है? महर्षि जी ने स्पष्ट रूप से कहा कि “क्योंकि जो बाहर जाकर पवित्रता करनी है तो सत्य

भाषावादी आचरण करना, वह जहाँ रहेगा कभी आचरण भ्रष्ट, धर्म भ्रष्ट नहीं होगा और जो आर्यावत में रहकर दुष्टाचार करेगा वही आचार भ्रष्ट, धर्म भ्रष्ट कहायेगा।" चरित्र का अर्थ त्रिकुण्ड लगाना, मन्दिर जाना, दोनों समय गंगा स्नान करना, ब्रत करना, दान देना ही नहीं है, चरित्र का अर्थ अपने कर्त्तव्यों का पालन दूसरे के साथ सदाचरण, देशभक्ति ईमानदारी इत्यादि है। महर्षि जी सनातन धर्म के विरोधी नहीं थे बल्कि उसमें व्याप्त कुरीतियों एवं अन्धविश्वास का विरोध किया है तथा चरित्र के नाम पर संकीर्णता बर्दाश्त नहीं करते थे वर्ण–व्यवस्था में सबसे बड़ी कमी थी कि चैथे वर्ण को अस्पृश्य माना जाता रहा तथा उनके साथ महर्षि जी का इससे आशय यह था कि व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए कठोर अनुशासन की आवश्यकता होती है जो निरपेक्ष होनी चाहिए।[32] महर्षि जी विद्यार्थियों को चोरी, आलस्य, प्रमाद, मादक पदार्थ, हिंसाक्रूरता मोह आदि छोड़ने की शिक्षा देते है और कहते है कि विद्यार्थियों को इसके लिए प्रतिज्ञा करनी चाहिए। वे विद्यार्थियों के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए उन्हें सुझाव देते है कि सुवाणी बोले, जितना बोलना चाहिए उससे न्यून या अधिक न बोले, बड़ों को मान्यता दे, सामने उठकर उच्चासन पर बैठावे और उनके सामने नीचे आसन पर बैठे। सभा में वैसे स्थान पर ही बैठे जैसी अपनी योग्यता हो, विरोध किसी का न करें आदि दोषों से दूर रहे। महर्षि जी विद्यार्थियों के सुसभ्य, सुसंस्कारी तथा अनुशासन प्रिय एवम् विनम्र बनाने के लिए तैतिरीय उपनिषद में दिये गये उपदेशों का पालन करने के लिए कहते है। माता–पिता, आचार्य को चाहिए कि इन उद्देश्यों को उनके मस्तिष्क में बैठावे। जैसा सत्य जानों बोलो, पाखण्डी, दुष्टाचारी व्यक्ति पर विश्वास न करो। माता–पिता आचार्य देव हैं, स्वाध्याय पर घमण्ड न करो। वर्तमान विद्यालयों में तथा शिक्षण संस्थाओं में अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण गुरू–शिष्य परम्परा मृत प्राय हो रही है। गुरू–शिष्य सम्बन्ध का आधार जहाँ आपसी विश्वास था वहाँ अब केवल ज्ञान लेने–देने तक सीमित रह गया। इसलिए विद्यालयों में अनुशासन हीनता, उदण्डता, उच्छृंखलता तथा अनैतिक आचारण देखा जा रहा है। इसके अतिरिक्त अनुशासन हीनता के कारण परिवारों के अनुशासन, मूल्यों एवम् संस्कारों का अभाव, सामाजिक माप दण्डों में विश्वास न करना तथा जनसंचार के माध्यम से राजनीतिक संस्थायें जिसमें विद्यार्थियों को अधिकार का बोध कराया जाता है लेकिन कर्त्तव्यों का बोध नहीं। विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, माध्यमिक विद्यालय तथा अन्य प्राथमिक तथा औद्योगिक संस्थाओं में मूल्यों का ह्रास, चरित्र और नैतिकता का पतन बहुत तेजी से हो रहा है। लोकतांत्रिक प्रणाली का लाभ उठाकर विद्यार्थी अपनी प्राचीन मूल्यों को छोड़ते जा रहे है। ऐसी स्थिति में अनुशासित, चरित्रवान सुसंगठित व्यक्तित्व के निर्माण करने के लिए प्राचीन आर्यावर्त के अनुशासन की ओर देखना समाचीन होगा। महर्षि जी के व्यवहार वादी अनुशासन के पालन से जहाँ उत्कृष्ट मान्यताओं का संरक्षण होगा । वही उठना–बैठना, खाना–पीना तथा उनके द्वारा बनाया गया भोजन दिया गया पानी भी व्याप्य (छूत) मानना तात्कालिक ब्राह्मण का चरित्र था। महर्षि जी ने इस कृत्य का घोर विरोध किया और स्पष्ट रूप से कहा कि पात्र (रसोईया) बनाने का कार्य शूद्रों को दे दिया जाना चाहिए। वे ये नहीं मानते थे कि एक व्यक्ति भूखा मर जाय और वहीं किसी विशेष जाति में उत्पन्न होने के कारण उसे मूल्यावान दान दिया जाय। वे कहते थे कि नैतिकता यह है कि पहले भूखों का पेट भरो, दरिद्र को दान दो, उसके प्रति सहानुभूति रखो, यही तुम्हारी सबसे बड़ी नैतिकता है। इस चरित्र और नैतिकता का उद्देश्य वे कक्षा–शिक्षण के माध्यम से देने के पक्षधर नहीं थे बल्कि इसका उत्तरदायित्व माताओं योग्य गुरूओं का होना चाहिए जो अपने व्यवहार से इन आदर्शों की शिक्षा बच्चों के मन में एक संस्कार के रूप में दें।

सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकीकरण के लिए महर्षि दयानन्द के विचारो की प्रासंगिकता- महर्षि जी का भारत वर्ष में सबसे अधिक योगदान समाज सुधार में है। महर्षि जी ने तत्कालीन परिस्थितियों का संज्ञान अध्ययन में किया तथा इस तथ्य पर पहुँचे

कि यदि भारत वर्ष जाति–पाँति, छुआ–छूत, साम्प्रदायिकता, आडम्बर तथा ऊँच–नीच में बाँटा जा रहा हो तो, न तो सामाजिक एकता और नहीं राष्ट्रीय एकता हो सकती है, उन्होंने सामाजिक एकता का बीड़ा उठाया। सभी जातियों को जातियता और वर्ण मोह से निकालने का प्रयत्न किया। उन्होंने प्रचलित वर्ण व्यवस्था का विरोध किया क्योंकि इसका आधार जन्म पर था। अक्टूबर सन् 1875 ई0 महर्षि ने सतारा में उपदेश देते हुए कहा– वर्ण–भेदगुण पर निर्भर है न कि जन्म पर।

शताब्दियों की राजनीतिक पराधीनता ने भारतीयों को न केवल दुर्बलता, दरिद्रता, हीनता की भावना एवं अन्य विकारों से ग्रस्त कर रखा था बल्कि राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक उत्पीड़न एवम् आत्मोदय के अभाव में कुण्ठा विकसित भारतीय समाज में हो गयी थी। धर्म के नाम पर धोखा, कर्मकाण्ड का मिथ्या प्रचलन, उदार एवं संगत विचार के स्थान पर कठोर साधनाओं, हठ–योगों, कठोर ब्रतों से श्रृंखलाबद्ध–गूढ़ रूढ़ियों का अनुपालन यह उस युग की विडम्बना थी। सर्वत्र संकीर्णता एवं अनुदारता व्याप्त थी, इसके कारण जाति अत्याचार, स्त्रियों की उपेक्षा, छुआ–छूत, ऊँच–नीच, दलित एवं निर्बल वर्ग पर अकल्पनीय अत्याचार आदि हो रहे थे। इन सामाजिक कुरीतियों ने भारत में सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न कर दी थी।[33]

लड़कियों की शिक्षा सम्बन्धी विचारों की प्रासंगिकता- महर्षि दयानन्द जी स्त्री और पुरूष दोनों को समान महत्व देते थे। शिक्षा और ब्रह्मचर्य द्वारा दोनों के सर्वांगीण विकास की व्यवस्था की। स्त्री शूद्रों नाधियाता मिती श्रुते: अर्थात् स्त्री और शूद्र न पढ़े यह श्रुति है इस श्रुति का विरोध करते हुए कहा कि यह सब स्त्री, पुरूष अर्थात् मनुष्य मात्र को पढ़ने का अधिकार है जैसे लड़के ब्रह्मचयर, सुविद्या एवं उत्तम शिक्षा को प्राप्त हों वैसे ही लड़कियाँ भी ब्रह्मचारिणी बनकर पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त करके योग्य पुरूषों को वरण करें। महर्षि जी के अनुसार ब्राह्मणी और क्षत्रियाणी को सब विद्या, वैश्याणी को व्यवहार विद्या शूद्राणी को पाक सेवा आदि की विद्या अवश्य पढ़ानी चाहिए। इसके अतिरिक्त वे लड़कियों को व्यवहार ज्ञान देने के भी पक्ष में थे। उन्होंने कहा है कि “लड़कियाँ ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावे जिससे वे माता–पिता, सास–ससुर, ईष्ट–मित्र, पड़ोसी संतान आदि से यथायोग्य व्यवहार कर सके, महर्षि दयानन्द अपने भाषण (1872) में स्त्री शिक्षा के विषय में प्रश्न करते हुए लिखा है– स्त्रियों को इनमें से विशेष की शिक्षा आवश्यक है– भाषा, धर्मशास्त्र, शिल्प विद्या, संगीत विद्या, वैद्यक शास्त्र इत्यादि। इनमें बैद्यक शास्त्र स्त्रियों के लिए विशेष प्रयोगनीय है।“ महर्षि जी नारी जाति के उत्थान के प्रबल पक्षधर थे। वे पहले संत थे जिन्होंने नारी को पुरूष के समान अधिकार देने की बात कही मध्यकालीन साधु–संतों, दार्शनिक एवं भक्तों ने नारी को भक्ति साधना में बाधक ही समझा। उसकी कुण्ठा एवं निन्दा करने का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने दिया था। महर्षि जी ने नारी को धर्म एवम् समाज, राजनीति, अर्थनीति आदि सभी क्षेत्रों में स्वाधीन देखने का स्वप्न देखा और इसका प्रबल समर्थन भी किया। महर्षि जी ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि जब पाँच वर्ष के लड़का–लड़की हो तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास कराया जाय। इससे स्पष्ट होता है कि महर्षि जी का विचार लड़कियों को भी लड़कों के समान ही शिक्षा देने की थी। वे लड़के–लड़कियों की शिक्षा में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करते थे बल्कि लड़कियों की शिक्षा लड़कों से अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में उल्लेख करते हुए महर्षि जी ने कहा है कि स्त्री यज्ञ में भाग ले भारत वर्ष की स्त्रियों में भूषण एवं गार्गी आदि वेद को पढ़ के विश्व प्रसिद्ध हुयी थी।

भाषा के सन्दर्भ में महर्षि जी के विचारों का वर्तमान के सन्दर्भ में प्रासंगिकता- उन्नीसवी सदी में भारत वर्ष गुलामी की जंजीर में जकड़ा हुआ था। मैकाले का विवरण पत्र 1835 ने अंग्रेजी भाषा को विश्व की सर्वश्रेष्ठ भाषा कहा तथा इसे व्यापक और

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की भाषा की संज्ञा दी। इतना ही नहीं उसने अंग्रेजी भाषा को शासकों की भाषा बताया और कहा कि आधुनिक ज्ञान विज्ञान या पाश्चात्य ज्ञान और विज्ञान को इसी भाषा के माध्यम से जाना जा सकता है। इसके बाद वुड के घोषणा पत्र 1854 में इसे क्रियान्वयन करने के लिए सुझाव दिया गया। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत वर्ष में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। मैकाले ने स्वयं अपने विवरण पत्र में स्वीकार किया था कि देशी विद्यालयों में अरबी, फारसी पढ़ने के लिए नि:शुल्क शिक्षा व्यवस्था होने पर भी छात्र पढ़ने नहीं जाते वहीं अंग्रेजी स्कूलों में फीस देने के बावजूद भी भीड़ लगी रहती है। उसने अपने तर्क में यह भी कहा कि सरकारी धन से प्रकाशित देशी भाषा की पुस्तकों को कम खरीदने वाले है, जबकि अंग्रेजी भाषा की पुस्तकों का मूल्य अधिक होने पर भी उसे लोग अधिक पढ़ रहे हैं। उसने यह भी तर्क दिया कि अंग्रेजी ही इस महाद्वीप की सबसे प्रचलित भाषा है।

जिसे प्रगतिशील भारतीय नेता भी शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं। यह भी सत्य था गोपाल कृष्ण गोखले जैसे नेता अंग्रेजी का समर्थन कर रहे थे, महर्षि जी ने इस मिथक को तोड़ा और कहा कि अपनी भाषा से देश की उन्नति होती है। उन्होंने तर्क दिया कि जब भारत जगत गुरू कहा गया, सोने की चिड़िया कहा गया, तक्षशीला और नालन्दा जैसे विश्वविद्यालय स्थापित हुए तो भारत वर्ष के लोगों की भाषा संस्कृत और पालि थी। भाषा ज्ञान का माध्यम हो सकती है लेकिन भाषा ही ज्ञान नहीं, इस तथ्य को वे अच्छी तरह समझते थे। अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारत वर्ष में आर्य ग्रन्थों को जानने वालों की कमी होती जा रही है। अतएव मातृभाषा को महत्व दिया जाना चाहिए, लेकिन उन्होंने अंग्रेजी भाषा को भी अस्पृश्य न माना, कहा कि अंग्रेजी या विदेशी भाषा की उपयोगिता परिस्थिति के अनुसार होनी चाहिए। महर्षि जी केवल संस्कृत को ही महत्व नहीं देते थे उनका कहना था कि अन्य देश की अन्य भाषायें जो की मातृ भाषा के रूप में अलग-अलग राज्यों में प्रतिष्ठित है जैसे गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़, उर्दू आदि का ज्ञान भी बालक को होना चाहिए। आर्य ग्रन्थों को पढ़ने के लिए संस्कृत भाषा के महत्व को स्वीकार किया। वे संस्कृत शिक्षा को देशोन्नति तथा जनकल्याण का मूल मानते थे। अत: स्थान-स्थान पर संस्कृत शिक्षा पर बल दिया।[34]

निष्कर्ष- उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् भारतीय समाज एक गहरे धार्मिक, सांस्कृतिक एवं वैचारिक संकट के दौर से गुज़र रहा था। एक ओर ईसाई मिशनरियों ने योजनाबद्ध तरीके से धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया को गति दी, वहीं दूसरी ओर इस्लामिक विचारधाराओं द्वारा भी हिन्दू धर्म की कटु आलोचना की गई। हिन्दू धर्म, जो मध्यकाल तक अपनी वैज्ञानिकता, उदारता और तर्कशीलता के लिए प्रसिद्ध था, अब सामाजिक विषमताओं, पाखंड और कर्मकाण्डों से ग्रस्त हो चुका था। ईसाई पादरियों ने न केवल लोकभाषाओं में धर्म प्रचार किया, बल्कि हिन्दू धर्म ग्रंथों और देवी-देवताओं का उपहास कर जनमानस में शंका एवं भ्रम उत्पन्न किया। परिणामस्वरूप, अनेक शिक्षित भारतीय, विशेषकर बंगाल और महाराष्ट्र में, ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हुए। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से एक ऐसा वर्ग विकसित हुआ जो न तो पूरी तरह भारतीय रहा और न ही पूर्णत: अंग्रेजी मूल्यों से एकरूप हो पाया। 1857 के विद्रोह ने धार्मिक अस्मिता और स्वतंत्रता की भावना को एक नई दिशा दी, परंतु उसके दमन के पश्चात ब्रिटिश शासकों ने धार्मिक निरपेक्षता की नीति को अपनाया। इसके बावजूद, शिक्षा और प्रशासन में ईसाई प्रभाव बना रहा, जिससे धार्मिक असंतुलन और वैचारिक द्वंद्व और गहराया। ऐसे संकटपूर्ण समय में महर्षि दयानंद सरस्वती जैसे समाज सुधारकों का उदय अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उन्होंने वेदों की ओर लौटने का आह्वान कर हिन्दू धर्म की शुद्धता, तर्कशीलता एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण को पुन: जाग्रत करने का प्रयास किया।

उन्होंने हिन्दू समाज को आत्मबोध कराया और एक सशक्त वैचारिक प्रतिरोध खड़ा किया। अत: यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन धार्मिक संकट के काल में महर्षि दयानंद जैसे विचारकों की भूमिका भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण में एक प्रकाश स्तम्भ के समान रही।

संदर्भ

1. इन्दिरा गांधी - मेसेज फार वर्ल्ड पर्सपेक्टिव आन स्वामी दयानन्द सरस्वती, जुलाई 7, 1983.
2. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इंथिक्स (1909) बालूम।
3. इन्द्र वाद्यावाचस्पति- महर्षि दयानन्द - सुबोध पाकेट बुक्स, दरियागंज, दिल्ली।
4. इण्डियन एजूकेशन- सम्पादित एम0 आर0 परांजपे बाम्बे मैकमिलन 1938
5. इण्डिया - न्यू दिल्ली पब्लिकेशन डिविजन 1966.
6. एफ0 ई0 ली0- हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान- आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस 1959.
7. एस् एम् दिवेकर- एफ क्रिटिकल स्टडी आफ दी एजूकेशनल फिलोसोफी आफ दी उपनिषद्स-अप्रकाशित पी- एच् डी थिसिस, बड़ौदा विश्वविद्यालय, 1960.
8. एच् डी ग्रिसवोल्ड इन्साइट्स इन्टू माडर्न हिन्दुइज्म, न्यूयार्क 1934, दी प्राबुलम आफ दी.
9. आर्य समाज, मंसूरी कान्फरेन्स पेपर 26 सितम्बर, 1901
10. एम् ए शेरिंग दी हिस्ट्री आफ प्रोटेस्टेन्ट मिशन इन इंडिया।
11. एच् बी हाम्पटन आइग्राफिकल स्टडीज इन माडर्न इण्डियन एजूकेशन आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1947
12. एण्डू जैक्सन डेविस वीयान्ड दी वैली (1885) वर्ल्ड पर्सपेक्टिव आन स्वामी दयानन्द
13. एम0 आर0 पराजये ए सोर्स बुक आफ माडर्न इण्डियन एजूकेशन मैकमिलन एण्ड कम्पनी, बाम्बे-1938.
14. ए0 एन0 वसु (संस्करण) एडक्स रिपोर्ट, कलकत्ता यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता 1947.
15. एच् एच् रिस्ले तथा इ ए गेट दी सेन्सस रिपोर्ट 1881 प्रथम भाग, शासकीय मुद्रणालय, कलकत्ता।
16. एन् ए चमूपति टैन कमान्डमेन्ट्स आफ दी आर्य समाज जन- ज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली।
17. एच0 आर0 घोषाल ऐन आउटलाइन हिस्ट्री आफ इण्डियन पीपुल पब्लिकेशन डिविजन, सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय 1952.
18. स्वामी सरस्वती ओमानन्द, देश भक्तों के बलिदान, हरियाणा साहित्य संस्थान, झज्जर 1980
19. भारतीय डॉ भवानीलाल, ऋषि दयानन्द की खरी-खरी बातें विजय कुमार, गोविन्द राम, हासानन्द, नई दिल्ली 2003

20. सिद्धान्तालंकार ऋषि धर्मदेव, वैदिक धर्म समाज प्रश्नोत्तरी राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली 1998

21. विद्यार्थी नीरज, सत्यार्थ प्रकाश क्यों पढ़े ? विजय कुमार, गोविन्द राम, हासानन्द, नई दिल्ली 2002

22. वेदालंकार हरिदत्त, आधुनिक राजनैतिक चिंतन, सरस्वती सदन दिल्ली, 1997

23. पाठक रघुनाथ, आर्य समाज और उसका संदेश, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली 1975

24. तिवारी गंगादत्त, आधुनिक राजनैतिक चिंतन का इतिहास, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ 1977 25. विशारद त्रिलोक चन्द, महर्षि दयानन्द विजय कुमार, गोविन्द राम, हासानन्द, नई दिल्ली 2003

25. वर्मा विश्वनाथ, आधुनिक भारतीय राजनैतिक चिन्तन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना 1996

26. अरविन्द दी आर्य- पाण्डिचेरी (1913-14) दयानन्द एण्ड दी वेद- स्टार प्रेस, आर्टिकल इन दी वैदिक मैगजीन, लाहौर - नवम्बर, 1916, इलाहाबाद

27. अमरनाथ झा - ग्लिनिंग्स फ्राम कन्वोकेशन ऐड्रेसेज - गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

28. प्रो॒ अन्थोनी पैरल- वर्ल्ड पर्सपेक्टिव आन स्वामी दयानन्द कन्सेप्ट पब्लिसिंग कम्पनी, बालीनगर, नयी दिल्ली।

29. अर्ल आफ रोनाल्डो दी हर्ट आफ आर्यावर्त वर्ल्ड पर्सपेक्टिव आन स्वामी दयानन्द।

30. डा0 आर0 टी0 देवोपर्कर- दी इवोलूशन आफ दी फिलोसाफी आफ एजूकेशन इन माडर्न इण्डिया - अप्रकाशित थिसिस, 1964 एम0 एस0 यूनिवर्सिटी, बड़ौदा।

31. डा॒ आशाकुमारी एजूकेशनल आइडियाज आफ दयानन्द सरस्वती अप्रकाशित एम॒ एड॒ डिजरेशन 1958 पटना विश्वविद्यालय।

32. आर॒ सी॒ व्यास- दी डेवेलपमेन्ट आफ नेशनल एजूकेशन इन इण्डिया-बोरा एण्ड कं॒ बाम्बे -1954

33. आर0 बी0 पारूलेकर- ए सोर्स बुक आफ हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन दी बाम्बे प्राविन्स पार्ट (1820-30)- इण्डियन इन्स्टीच्यूट आफ एजुकेशन, बाम्बे 1953.